संपादकीय

संस्कृत भारत की सबसे पुरानी उल्लिखित शास्त्रीय भाषाओं में से एक है। यदि आप संस्कृत जानते हैं तो कई भारतीय भाषाओं को आसानी से समझ सकते हैं। आधुनिक भारतीय भाषाओं जैसे मैथिली, हिंदी, उर्दू, कश्मीरी, उड़िया, बांग्ला, मराठी, सिंधी, पंजाबी आदि इसी से उत्पन्न हुई हैं। वेदों की रचना भी इसी भाषा में होने के कारण इसे वैदिक भाषा भी कहते हैं। हालाँकि देश में संस्कृत वैदिक भाषा बनकर ही सिमट गई है। आधुनिक दौर, व्यावसायिकता का दौर है जिस कारण संस्कृत उपेक्षित होती चली गई और लोगों ने उन भाषाओं को अपना लिया जो व्यावसायिक रूप से फ़ायदेमंद हैं। पिछले दिनों आई.आई.टी. में वैकल्पिक विषय के रूप में संस्कृत को पढ़ाए जाने के सरकार के सुझाव के बाद इसको लेकर काफ़ी विवाद भी हुआ। संस्कृत भाषा पर यह भी आरोप लगते रहे हैं कि यह सिर्फ़ मंदिरों और धार्मिक समारोहों के लिए मंत्रोच्चार की भाषा है। जबकि यह संस्कृत भाषा का मात्र पाँच प्रतिशत हिस्सा है। लगभग नब्बे फ़ीसदी से ज़्यादा हिस्से में दर्शन, विधि, विज्ञान, साहित्य, व्याकरण, ध्वनिशास्त्र, व्याख्या और विश्लेषण है।

शंकर शरण ने अपने लेख में चर्चा की है कि वर्तमान समय में भी संस्कृत की प्रासंगिकता खत्म नहीं हुई है। संस्कृत को लेकर जो भी विवाद हैं वे इसलिए हैं क्योंकि इसको लेकर लोगों में पर्याप्त समझदारी नहीं है। संस्कृत की अवहेलना करके हम अपना बहुत बड़ा नुकसान कर रहे हैं क्योंकि संस्कृत में बहुत से उपयोगी ग्रंथ हैं।

आधी आबादी की बात करें तो अभी भी समाज में बहुत बेहतर स्थिति नहीं हुई है और यह आँकड़ों से स्पष्ट हो जाता है। इस अंक में जेंडर संबंधी मुद्दों को लेकर दो आलेख शामिल किए गए हैं। राजेश कुमार श्रीवास्तव के लेख में राजनीतिक क्षेत्र में जेंडर असमानता पर चर्चा की गई है। उनका कहना है कि पार्टियों को विधायिका में महिलाओं की समान भागीदारी सुनिश्चित करनी चाहिए। वहीं जितेंद्र लोढ़ा की चिंता स्त्री शिक्षा की कमज़ोर स्थिति को लेकर है। प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने वाली और उच्च शिक्षा तक पहुँचने वाली लड़कियों की संख्या में एक बड़ा अंतर दिखाई देता है। हालाँकि इस स्थिति को खत्म करने में तेज़ी लानी होगी ताकि इस असमानता से निपटा जा सके।

इस अंक में साहित्य और समाज के संबंधों पर भी चर्चा की गई है। साहित्य किसी भी समाज में बहुत अहम भूमिका अदा करता है। साहित्य समाज की हकीकत के इर्द-गिर्द ही बुना जाता

है, हालाँकि यह कई बार समाज से एक कदम आगे भी होता है और कभी कुछ पीछे भी हो सकता है। संजीव कुमार भारद्वाज और तहसीन मज़हर ने जानने की कोशिश की है कि साहित्य में समाज सही-सही चित्रित हो भी पा रहा है या नहीं। संजीव ने अपने लेख में विभिन्न कविताओं पर चर्चा करते हुए बताने की कोशिश की है कि साहित्य सामाजिक यथार्थ को किस प्रकार सामने ला रहा है। वहीं तहसीन मज़हर ने विश्लेषण किया है कि समकालीन साहित्य में मुस्लिम स्त्री का चित्रण किस प्रकार से हो रहा है। क्या वह उसके संघर्ष के साथ-साथ चल पा रहा है या आज भी उसकी पुरानी छवि ही चित्रित की जा रही है।

केवलानन्द काण्डपाल और शारदा कुमारी ने कक्षा में बच्चों की सक्रियता पर चर्चा की है। केवलानन्द काण्डपाल ने अपने एक शैक्षिक अनुभव का ज़िक्र करते हुए बताया है कि बच्चों को किस तरह पढ़ाना चाहिए। जैसे कि पाठ को ना पढ़ाकर उनके परिवेश से संबंधित बातचीत और क्रियाकलाप कराकर बच्चों को आसानी से समझाया जा सकता है। यानी बच्चे पढ़ाई के दौरान खुद सक्रिय रूप से भाग लें। शारदा कुमारी ने पाठयोजना की जड़ता को तोड़ने की बात कही है और कहा है कि कक्षा में बच्चे सिर्फ़ शिक्षकों की हाँ में हाँ ना मिलाएँ, बल्कि प्रशिक्षु को उन्हें शिक्षण प्रक्रिया के दौरान सक्रिय बनाने की कोशिश करनी चाहिए।

पवन सिन्हा ने अपने लेख में ज़ोर दिया है कि जब तक शिक्षकों को खुद ही सही प्रशिक्षण नहीं मिलेगा तब तक वे बच्चों के भविष्य को सही आकार नहीं दे सकते। लेख में उन्होंने चिह्नित किया है कि शिक्षा के निजीकरण के फलस्वरूप खोले गए निजी शिक्षण प्रशिक्षण संस्थानों ने शिक्षक शिक्षा के स्तर को खराब किया है और कहा है कि इस व्यवस्था को बदला जाना चाहिए।

पवन कुमार के लेख में उत्तर प्रदेश के संदर्भ में प्राथमिक शिक्षा की बदहाली पर चर्चा की गई है और सुझाव दिया गया है कि स्थितियों को किस प्रकार बदला जाए। हालाँकि यह स्थिति सिर्फ़ उत्तर प्रदेश की नहीं है, अमूमन पूरे देश में प्राथमिक शिक्षा इसी हाल में है। प्राथमिक शिक्षा की इस स्थिति की वजह से ही माध्यमिक और उच्च शिक्षा को भी नुकसान हो रहा है।

अंशुल ने अपने लेख में शिक्षा के अधिकार अधिनियम की पड़ताल की है कि सामाजिक/आर्थिक रूप से कमज़ोर बच्चों को समान रूप से शिक्षा मुहैया करा पाने में सरकार सफ़ल हो पाई है या नहीं। आशा शर्मा एवं सुशील कुमार अवस्थी के संयुक्त लेख में अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति की शिक्षा के परिदृश्य पर चर्चा करते हुए सुधार के लिए आवश्यक सुझाव दिए गए हैं।

इस अंक में नाट्य शिक्षा पर भी एक लेख शामिल किया गया है। विजय सेवक ने नाट्य शिक्षा को जीवन जीने का दर्शन बताते हुए इसके विभिन्न पक्षों को बहुत ही सरल शैली में समझाया है।

अकादमिक संपादकीय समिति